# खटकने लगा है गरीब का खाना

**भूमंडलीकरण के दौर में विश्वव्यापी समस्याओं को लेकर परस्पर अंतर्राष्ट्रीय सरोकार बढ़ने चाहिए थे और उनके समाधान निकलने चाहिए थे, लेकिन सरोकार बढ़ने की बजाय समुदाय दोषारोपण पर उतर आए हैं।**

**प्रमोद भार्गव**

भारत और चीन के गरीबों को दो जून की दाल-रोटी भरपेट मिलने लगी है। अव्वल तो यह बात पूरी तरह सही नहीं है, लेकिन भरपेट भोजन मिलने भी लगा है तो इसमें विकसित देशों के मुखिया खुश होने की बजाय चिंतित क्यों नज़र आ रहे हैं? पहले इस ओर इशारा ब्राज़ील के राष्ट्रपति ब्रूला ने किया, फिर अमेरिकी विदेश मंत्री कोंडालिजा राइज़ ने हमारी हंडिया को खंगाला और अब राष्ट्रपति बुश हमारी थाली का मुआयना कर रहे हैं। गहराए खाद्य संकट पर अफसोस जताते हुए वे कह रहे हैं कि बढ़ती महंगाई का कारण भारत की वह 35 करोड़ मध्यवर्गीय आबादी है जो क्रय शक्ति बढ़ जाने से खाना भी ज़्यादा खाने लगी है। जबकि सच्चाई इसके उलट है।

भारत में लगभग 20 प्रतिशत और चीन में करीब 15 प्रतिशत भुखमरी का अभिशाप झेल रहे ऐसे लोग हैं, जिन्हें दो जून भरपेट आहार सुलभ नही है। दूसरी तरफ पूंजीवादी शक्तियां हैं जो भौतिक भोग-विलास की सहज उपलब्धता के लिए जैव ईंधन के उत्पादन में उन्माद की हद तक संलग्न हैं। उन्होंने इसकी आपूर्ति के लिए खाद्यान्न के बफर स्टॉक को बाजार में पहुंचने से रोका किया हुआ है। चीन ने भी यही नीति अपनाई हुई है। ऐसे में खाद्यान्न निर्यातक देश भारत की पहली जवाबदारी अपने नागरिकों का पेट भरने की है न कि ईंधन के लिए खाद्यान्न के रूपांतरण हेतु अपने अन्न भंडारों के निर्यात की।

भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की वैश्विक अर्थ व्यवस्था का यही हश्र होना था। पश्चिमी जीवन शैली के कायल नीतिकारों ने अपने देशों को ऐसे आर्थिक कुचक्र में उलझा लिया है जिसमें एक ओर तो जीवन यापन की देशज परंपराओं को नकार कर खर्चीली तकनीक आधारित पद्धतियों को अपनाया गया है, तथा दूसरी ओर, प्राकृतिक संसाधनों का बेशुमार दोहन कर एक बड़ी आबादी को प्राकृतिक संसाधनों के इस्तेमाल से ही वंचित कर दिया है।

संसाधनों के दोहन और मुनाफे में बड़ी हिस्सेदारी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की है। इन्हीं कंपनियों के कारोबारियों के वाहनों की टंकियों में ईंधन के लिए अनाज की मांग बढ़ती जा रही है।

हम बुश, ब्रूला और राइज़ को गरीब की थाली में झांकने के लिए दोषी ठहराएं इसके पहले ही केंद्रीय वाणिज्य मंत्री कमलनाथ सिंगापुर में कह चुके थे कि भारत में एक समय भोजन करने वाले डेढ़ करोड़ लोग अब दोनों वक्त भोजन करने लगे हैं इसलिए अनाज की खपत दुगनी हो गई है और खाद्यान्न की उपलब्धता का संकट हमारे सामने है। आखिर गरीब दो वक्त खाने भी लगा है तो क्या यह उसका हक नहीं है? क्या सत्ताधारियों की यह संवैधानिक जबावदेही नहीं बनती कि वह हर पेट को भरपेट भोजन और हर हाथ को रोज़गार मुहैया कराने का दायित्व निभाए?

साढ़े तीन साल में महंगाई की दर सर्वोच्च स्तर पर है। अनाज, दालें, तेल, दूध और सब्ज़ी की दरें सरकारी नियंत्रण से बाहर हैं। अराजक महत्वाकांक्षाएं सुरसा की भांति मुंह बाये खड़ी हैं। आम जन की अपेक्षाओं के प्रति राजनैतिक नेतृत्व उदासीन, लापरवाह व निश्चिंत लगता है।

फिर क्या इस बात पर भरोसा कर लिया जाए कि गरीब भरपेट भोजन कर रहा है? उसकी क्रय शक्ति उदारवादी अर्थव्यवस्था के चलते बढ़ गई है? आज भी कई सम्पन्न लोग थाली में जितना जूठन छोड़ देते हैं, एक बड़ी आबादी को उतनी रोटी भी मयस्सर नहीं है। इनके बच्चे जितना दूध पीकर गिलास में छोड़ देते हैं उतना दूध भी गरीब के बच्चे के नसीब में नहीं है। दूध तो दूध, आज तो ठंडे पानी की प्याऊ भी बस अड्डों, रेल्वे स्टेशनों और सार्वजनिक स्थलों से उठा ली गई हैं ताकि बहुराष्ट्रीय कंपनियों का पाउच और बोतल बंद पानी का कारोबार निर्बाध फलता-फूलता रहे।

यथार्थ तो यह है कि भूमंडलीकरण व निजीकरण के फलस्वरूप भारत जैसे लोकतांत्रिक देश की सरकार खुद विषमता को जन्म देने वाली व्यवस्था की हित साधक बन गई है। नतीजतन उपभोग की असमानता बढ़ती चली गई है। देखते-देखते गरीबों की औसत आय में तेज़ी से कमी आई है और उनकी औसत खुराक भी घट गई है।

भारत की आबादी दुनिया की कुल आबादी की 17 प्रतिशत है। वहीं दुनिया के 36 प्रतिशत गरीब भारत में रहते हैं, जिनकी आमदनी प्रतिदिन 1 अमेरिकी डॉलर अर्थात करीब 40 रुपए प्रतिदिन या उससे कम है। यदि और गहराई में जाएं तो शहर में प्रति व्यक्ति औसत मासिक खर्च 538.58 रूपए और गांव में प्रति व्यक्ति मासिक खर्च 356.33 रुपए है। जबकि 2004-05 में प्रति ग्रामीण मासिक खर्च 559 रुपए और शहरी क्षेत्र में औसत मासिक खर्च 1052 रुपए था। यानी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन खर्च ग्रामीण क्षेत्र में 18 रुपए और शहरी क्षेत्र में 33 रुपये औसत बैठता है।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की रिपोर्ट कहती है कि 7 करोड़ 30 लाख से भी ज़्यादा लोगों का दैनिक प्रति व्यक्ति खर्च 9 रुपए से भी कम है।

दरअसल उपभोक्तावाद ने भारत को दो संसारों में बांट दिया है। एक संसार उन लागों का है जिनकी जीवन शैली आर्थिक समृद्धि से एकदम बदल गई है। लेकिन दूसरे संसार में बहुसंख्यक ऐसे लोग हैं जो साधारण जन सुविधाओं, रोज़गार के अवसरों और बेहतर जीवन शैली से पूरी तरह अछूते हैं। इस दूसरे संसार के हितों को दृष्टिगत रखते हुए भारत यदि खाद्यान्न संकट को लेकर सचेत है और उसने निर्यात प्रतिबंधित किया है तो इसमें हर्ज क्या है।

भूमंडलीय अर्थ व्यवस्था के विस्तार के समय राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के समर्थकों ने आशंका भी जताई थी कि आर्थिक ताकतों का केंद्रीकरण बाज़ार को सही अर्थों में मुक्त नहीं रहने देगा। निजी व्यापार की मुनाफाखोर प्रवृत्तियां उसे एकाधिकारवाद की ओर धकेलेंगी। हुआ भी यही। बढ़ती महंगाई पर राज्य लगाम नहीं लगा पा रहा है।

भारत समेत कई विकासशील राष्ट्रों की संप्रभुता महंगाई के समक्ष घुटने टेकती नज़र आ रही है। शायद इसीलिए प्रधानमंत्री को कहना पड़ा कि मौजूदा संकट चाहे वह खाद्यान्न उपलब्धता का हो अथवा ऊर्जा का, अंतर्राष्ट्रीय समुदाय उसे गंभीरता से नहीं ले रहा है। पिछले दो साल में पेट्रोलियम की वैश्विक मांग में केवल 1 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है जबकि कच्चे तेल की कीमतों में 90 प्रतिशत का उछाल आया है। भूमंडलीकरण के दौर में विश्वव्यापी समस्याओं को लेकर परस्पर अंतर्राष्ट्रीय सरोकार बढ़ने चाहिए थे और उनके समाधान निकलने चाहिए थे, लेकिन सरोकार बढ़ने की बजाय समुदाय दोषारोपण पर उतर आए हैं।

खाद्यान्न संकट गहराने और बढ़ती मंहगाई की जड़ में सच्चाई यह है कि अमेरिका और अन्य युरोपीय देश बड़ी मात्रा में खाद्यान्न का उपयोग जैव ईंधन के निर्माण में करने लगे हैं। गेहूं, चावल, मक्का और सोयाबीन का कायांतरण इथेनॉल और बॉयो डीज़ल के उत्पादन में किया जा रहा है। ऐसा ऊर्जा संसाधनों की ऊंची लागतों को कम करने के लिए वैकल्पिक जैव ईंधनों को बढ़ावा देने की दृष्टि से किया जा रहा है। जैव ईंधन के उत्पादन ने अनाज बाज़ार के स्वरूप को विकृत कर दिया है। अमेरिका द्वारा खाद्यान्न का मवेशियों के लिए चारे के रूप में भी इस्तेमाल किए जाने से भी यह संकट गहराया है।

अमेरिका स्थित अंर्तराष्ट्रीय खाद्य नीति शोध संस्थान के जोकिम वॉन ब्रान का मानना है कि जैव ईंधन के बढ़ते उन्माद ने विश्व को खाद्य संकट की ओर धकेला है। यदि

2008 के अंत तक अनाज आधारिक जैव ईंधनों के उत्पादन को रोक दिया जाए तो 2009 तक मक्का की कीमत में 10 प्रतिशत और 2010 तक गेहूं की दाम में 10 प्रतिशत की गिरावट आना तय है।

प्रधानमंत्री ने बाज़ार की प्रमुख शक्तियों और कुछ उत्पादकों पर भी महंगाई घटाने की सामाजिक ज़िम्मेदारी डाली है। वैसे तो भारत में फिलहाल खाद्यान्न संकट नहीं है। इन आशंकाओं का भी कोई आधार नहीं है कि हमें खाद्यान्न संकट और भुखमरी से जूझ रहे अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिकी देशों की तरह खाद्यान्न अभाव का सामना करना पड़ सकता है। लेकिन बढ़ती महंगाई के कारण भोजन आम जन की क्रय शक्ति से बाहर होता जा रहा है। लिहाजा इस मामले को गंभीरता से लेने की ज़रूरत है। ***(स्रोत फीचर्स)***